RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-2, मार्च अप्रैल मई 2023

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 अंक - 2 मार्च-अप्रैल-मई-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था का विश्लेषण

आराधना माहेश्वरी
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

प्राचीन भारतीय समाज की जीवन-पद्धति को सुव्यवस्थित करने में वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आश्रम व्यवस्था मानव जीवन को विभिन्न चरणों में विभक्त कर उसके सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दायित्वों का निर्धारण करती है। यद्यपि आश्रम व्यवस्था का सुविकसित और स्पष्ट स्वरूप उत्तरवैदिक काल में दिखाई देता है, तथापि इसके मूल तत्वों की उपस्थिति पूर्व-वैदिक अथवा ऋग्वैदिक काल में भी देखी जा सकती है। इस काल में आश्रम शब्द का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता, किंतु जीवन की विभिन्न अवस्थाओं से संबंधित जो संकेत ऋग्वेद में उपलब्ध हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं कि जीवन को क्रमबद्ध रूप से जीने की धारणा समाज में विद्यमान थी।

पूर्व वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था :

ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य आश्रम का स्पष्ट विधान नहीं मिलता, परंतु शिक्षा और अध्ययन के महत्त्व पर पर्याप्त बल दिया गया है। दसवें मण्डल में ब्रह्मचारी का उल्लेख मिलता है। ग्रिफ़िथ के अनुसार यहाँ ब्रह्मचारी का तात्पर्य धार्मिक विद्यार्थी से है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में शिक्षा को धार्मिक और नैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अध्ययन को जीवन का आवश्यक अंग स्वीकार किया गया था तथा विद्या प्राप्ति को कल्याणकारी समझा जाता था। पवमान सूक्त में यह संकेत मिलता है कि वेदों का अध्ययन करने वाले को देवताओं की शरण प्राप्त होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा केवल सांसारिक उन्नति का साधन नहीं, बल्कि आध्यात्मिक उत्थान का भी माध्यम थी। गुरु-शिष्य परम्परा का अस्तित्व भी ऋग्वेद में अप्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है, जहाँ विद्यार्थी गुरु द्वारा सिखाए गए पाठ का अनुसरण करता था।

गृहस्थाश्रम की स्थिति ऋग्वैदिक समाज में अत्यंत सुदृढ़ दिखाई देती है। विवाह को सामाजिक जीवन का आधार माना गया था और विवाह संस्कार को धार्मिक गरिमा प्रदान की गई थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में सूर्या के विवाह का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि विवाह केवल व्यक्तिगत संबंध नहीं था, बल्कि सामाजिक और नैतिक दायित्वों का प्रारम्भ था। नवविवाहिता कन्या के लिए यह कामना की जाती थी कि वह अपने व्यवहार से नवीन परिवार को सुखी बनाए और आदर्श गृहस्थ जीवन का निर्वाह करे। 'गृहपति' शब्द का बार-बार प्रयोग इस तथ्य का द्योतक है कि गृहस्थ जीवन को समाज की आधारशिला माना जाता था।

ऋग्वेद में पारिवारिक जीवन के विविध पक्षों का यथार्थ चित्रण मिलता है। जुआरी सूक्त में एक

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

ऐसे व्यक्ति का वर्णन है जो जुए के कारण अपने परिवार से विमुख हो जाता है। उसकी पत्नी और माता उससे दु:खी रहती हैं और उसका घर शांति से रहित हो जाता है। इस सूक्त में पारिवारिक विघटन के कारणों तथा उसके दुष्परिणामों का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक समाज में आदर्श पारिवारिक जीवन की एक स्वीकृत अवधारणा थी, और उससे विचलन को सामाजिक रूप से निंदनीय माना जाता था। साथ ही, संयुक्त परिवार प्रणाली के भी संकेत मिलते हैं, जहाँ एक ही गृह में पुत्रों और पौत्रों के साथ निवास का उल्लेख है।

सन्तानोत्पत्ति को गृहस्थ का प्रमुख कर्तव्य माना गया था। ऋग्वेद में पुत्र-प्राप्ति के लिए देवताओं से प्रार्थनाएँ की गई हैं। कन्या की विदाई के समय उसे सुपुत्रों की माता बनने का आशीर्वाद दिया जाता था। प्रजापति से सन्तान की और इन्द्र से अनेक पुत्रों की कामना की गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वंशवृद्धि और पारिवारिक निरन्तरता को सामाजिक जीवन का अनिवार्य अंग माना जाता था।

ऋग्वेद में यति और मुनि जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो वैराग्य और तपस्यापूर्ण जीवन की ओर संकेत करते हैं। मुनियों को संयमी, ध्यानमग्न तथा विशेष वेशधारी बताया गया है। वे देवताओं के सान्निध्य में रहते हैं और इन्द्र को उनका सखा कहा गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार यति और मुनि ऐसे आर्य और अनार्य तपस्वी थे जो सादा और संयमित जीवन व्यतीत करते थे। यद्यपि इनका स्वरूप उत्तरकालीन वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम से पूर्णत: मेल नहीं खाता, तथापि यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैराग्य की प्रवृत्ति ऋग्वैदिक समाज में विद्यमान थी। इन संकेतों को आश्रम व्यवस्था की प्रारम्भिक अवस्था के रूप में देखा जा सकता है, यद्यपि इसे पूर्ण विकसित व्यवस्था मानना उचित नहीं होगा।

उत्तर वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था :

उत्तर-वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था पूर्व-वैदिक काल की तुलना में अधिक स्पष्ट दिखाई देती है, हालांकि यह पूर्णत: संस्थागत रूप में विकसित नहीं हुई थी। सामवेद और यजुर्वेद में शिक्षा का उल्लेख मिलता है, परंतु उसका सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से संबंध संदिग्ध है। अतिथिसत्कार और गृहपति जैसे उल्लेखों से गृहस्थाश्रम की उपस्थिति का संकेत मिलता है, जबकि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के संकेत अनुपस्थित हैं।

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों के कई उल्लेख मिलते हैं। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य इन्द्रिय-संयम और पवित्र ज्ञान से है। मृगचर्मधारी ब्रह्मचारी अग्नि में समिधा अर्पित कर तेजस्वी बनता था और भिक्षादि नियमों का पालन करता था। कन्याओं के लिए भी ब्रह्मचर्य आवश्यक माना गया, क्योंकि इसके पालन से श्रेष्ठ पति की प्राप्ति संभव मानी जाती थी।

गृहस्थाश्रम विवाह संस्कार से प्रारम्भ होता था। विवाह के अवसर पर अग्निदेव से दंपति और गृहस्थ जीवन की समृद्धि, संतानोत्पत्ति और ऐश्वर्य की कामना की जाती थी। अतिथिसत्कार गृहस्थ का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था, और अतिथि सेवा को पुण्य का साधन माना जाता था।

ऐतरेय ब्राह्मण में चारों आश्रमों का अप्रत्यक्ष उल्लेख मिलता है। मृगचर्म ब्रह्मचारी का प्रतीक है, पुत्र की कामना गृहस्थाश्रम से जुड़ी है, लंबी दाढ़ी वानप्रस्थ और तप संन्यास आश्रम से संबद्ध माना गया। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम पूर्ण विकसित और सामाजिक जीवन में स्पष्ट रूप

से स्थापित थे, जबकि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम अभी प्रारंभिक और संकेतात्मक अवस्था में थे। यह समाज जीवन को नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आधार पर व्यवस्थित करने की दिशा में अग्रसर था।

उपनिषदों में आश्रम व्यवस्था :

उपनिषदों में आश्रम व्यवस्था का स्वरूप उत्तरवैदिक काल की तुलना में और स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कंध बताए गए हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान को पहला स्कंध माना गया, जो गृहस्थाश्रम का संकेत है; दूसरा स्कंध तप, जो वानप्रस्थ और संन्यास के तत्वों से जुड़ा है; तथा तीसरा स्कंध आचार्य के घर में रहने वाला ब्रह्मचारी, जो ब्रह्मचर्याश्रम का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार उपनिषदों में गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य आश्रमों का संकेत मिलता है।

आश्रम उपनिषद् में चारों आश्रमों और उनके प्रकारों का विवरण मिलता है। ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ लगभग बारह वर्ष की आयु से होता था। शिष्य गुरु के पास अध्ययनरत रहते और विनम्रता तथा सहयोग का आचरण करते थे। गुरु-शिष्य संबंध स्नेहपूर्ण और सहकारपूर्ण होता था। ब्रह्मचर्य की समाप्ति समावर्तन संस्कार से होती थी, और बिना गुरु की अनुमति घर लौटना संभव नहीं था।

गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाह से होता था। विवाह के समय यज्ञ, दान और अध्ययन के साथ गृहस्थ जीवन की समृद्धि, संतानोत्पत्ति और ऐश्वर्य की कामना की जाती थी। गृहस्थ का कर्तव्य केवल पारिवारिक और सांसारिक जिम्मेदारियों तक सीमित नहीं था; अतिथिसत्कार, पत्नी का सहयोग और पुत्र की शिक्षा-दीक्षा भी उसके धर्म में शामिल थे। गृहस्थाश्रम में यज्ञ, दान और अध्ययन के साथ सत्य और धर्म का पालन आवश्यक था। वृद्धावस्था में गृहस्थ अपने ज्येष्ठ पुत्र को उत्तरदायित्व सौंपकर वानप्रस्थाश्रम या संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था।

वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार मुनि वह है जो पुत्रोत्पत्ति और सांसारिक सुखों के बाद भिक्षा से जीवन-निर्वाह करता है। चौथे आश्रमी के लिए परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया गया है। जावाल उपनिषद् और नारदपरिव्राजक उपनिषद् में आश्रमों के क्रम और विकल्प स्पष्ट हैं—ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ, गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ और उसके बाद संन्यास या परिव्राजक।

बौद्ध साहित्य में आश्रम व्यवस्था :

बौद्ध साहित्य में भी जीवन के विभिन्न चरणों और उनके अनुशासन का विस्तृत वर्णन मिलता है। शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से बालक लगभग 16 वर्ष की अवस्था में तक्षशिला जाते थे, जैसे जातक कथाओं से ज्ञात होता है। ब्रह्मदत्त और बोधिसत्त्व ने इसी उम्र तक वेदाध्ययन पूर्ण कर लिया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध साहित्य में भी शिक्षा और ब्रह्मचर्य की किसी निश्चित आयु नहीं थी, बल्कि शिष्य की क्षमता और आवश्यकता के अनुसार इसकी अवधि भिन्न हो सकती थी।

महावग्ग में गुरु के लिए उपज्झाय (उपाध्याय) और शिष्य के लिए सिद्धविहारिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। गुरु-शिष्य संबंध स्नेह और सहयोग पर आधारित होता था। शिष्य को गुरु का सम्मान करना, उनकी सेवा करना, उनके कहे बिना भिक्षापात्र का प्रयोग न करना, उनकी स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान रखना आदि आवश्यक समझा गया था। इस प्रकार गुरु-शिष्य का संबंध केवल शिक्षा का माध्यम नहीं, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक अनुशासन का आधार भी था।

जातक कथाओं में यह भी देखने को मिलता है कि अनुशासनहीन शिष्य को अनुचित आचरण के लिए दण्ड दिया जाता था। उदाहरणत: तिलमुट्ठि जातक में राजा ब्रह्मदत्त के पुत्र ने आचार्य के बताए नियमों का उल्लंघन किया, जिसके परिणामस्वरूप उसे अनुशासन दिया गया। यह दर्शाता है कि बौद्ध शिक्षा में अनुशासन और शिष्य का गुरु के प्रति पूर्ण विश्वास अत्यंत महत्त्वपूर्ण था।

संयुक्त निकाय और अनिच्च सुत्त में ब्रह्मचर्य का लक्ष्य रागरहित और विमुक्त होना बताया गया है। शिष्य को जीवन में वासना और लोभ पर नियंत्रण रखना अनिवार्य था। इसके अलावा, बौद्ध साहित्य में पारिवारिक जीवन का भी उल्लेख है, जिसमें गृहस्थ जीवन कभी-कभी विषय वासना से युक्त समझा गया, जबकि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के समान जीवन-आचरण का आदर्श बोध कराया गया।

वानप्रस्थाश्रम के समान दरीमुख जातक में राजा ब्रह्मदत्त अपने पुत्र को राज्य सौंपकर स्वयं काम-भोगों का परित्याग कर हिमालय की ओर चले जाते हैं। संन्यास आश्रम में इच्छाओं पर पूर्ण नियन्त्रण, विशेष भोजन और विलासिता का परित्याग आवश्यक था। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में आश्रम व्यवस्था का लक्ष्य आत्मनियंत्रण, शिक्षा, नैतिकता और आध्यात्मिक उन्नति पर केन्द्रित था।

सूत्रों में आश्रम व्यवस्था :

सूत्रों में चारों आश्रमों का स्पष्ट और व्यवस्थित वर्णन मिलता है। आपस्तम्ब ने मुनि शब्द का प्रयोग करके सन्यासी, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों का उल्लेख किया है, जबकि गौतम धर्मसूत्र में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस का उल्लेख मिलता है। टीकाकार के अनुसार भिक्षु का तात्पर्य सन्यासी से और वैखानस का तात्पर्य वानप्रस्थी से है। इस प्रकार सूत्रों में आश्रमों का परंपरागत क्रम हमेशा स्पष्ट नहीं मिलता।

सूत्रों में ब्रह्मचारी के कर्तव्य विस्तृत हैं। इसमें वेदाध्ययन करना, वाणी पर संयम रखना, भिक्षा माँगना, गुरु का आदर करना और उनसे प्राप्त वस्तु को अनुमति लेकर ग्रहण करना शामिल था। ब्रह्मचारी को स्नान और गुरु की अनुमति से ही विवाह करना चाहिए। गृहस्थाश्रम के कर्तव्य में अतिथिसत्कार, यज्ञ, दान, सन्तानोत्पत्ति और स्वाध्याय प्रमुख हैं। गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों का आधार और श्रेष्ठतम माना गया है।

वानप्रस्थी के आचार के संबंध में सूत्रों में बताया गया है कि उसे जंगल में रहना चाहिए, ग्राम में आना अनुचित था, स्वत: प्राप्त फल और वस्तुओं का सेवन करना चाहिए तथा आगत अतिथियों का सत्कार करना आवश्यक था। प्रतिग्रहण और संचय वर्जित था। इसका उद्देश्य शिष्य को संसार से दूर रहने और आत्म-नियंत्रण का अभ्यास करवाना था।

संन्यास या परिव्राजक के लिए भी विस्तृत निर्देश हैं। उसे सभी प्राणियों को अभय दान देना, विरोधी भावनाओं से दूर रहना, किसी वस्तु के न मिलने पर दु:ख न करना, वेद के अतिरिक्त सभी कर्मों का परित्याग करना, स्थायी निवास न रखना और संसार के सुखों में आसक्त न होना अनिवार्य था। सूत्रों में सन्यासाश्रम का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के रूप में प्रस्तुत है। बौधायन के अनुसार व्यक्ति को सत्तर वर्ष की आयु के बाद सन्यास जीवन व्यतीत करना चाहिए और संचय या भोग से परहेज करना चाहिए।

महाकाव्यों में आश्रम व्यवस्था :

रामायण और महाभारत में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—का स्पष्ट

विवरण मिलता है।

रामायण में ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर स्नातक की अवस्था होती थी। स्नातकों के प्रकार—विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक और विद्या-व्रत स्नातक—के उल्लेख से शिक्षा और आचार का महत्व स्पष्ट होता है। गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठतम माना गया है, जिसमें गृहस्थ अपने धर्मपत्नी के साथ यज्ञ, दान और सामाजिक कर्तव्यों का पालन करता था। वृद्धावस्था में गृहस्थ वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता, जहाँ इन्द्रियों का संयम रखते हुए फलादि का आहार करता और वन में निवास करता। वानप्रस्थी को अतिथि सत्कार, क्षमाशीलता और नैतिक अनुशासन का पालन करना आवश्यक था। वाल्मीकि रामायण में वानप्रस्थ और गृहस्थ जीवन में अंतर स्पष्ट करते हुए, पत्नियों के साथ वनवास और सामाजिक उत्तरदायित्वों को वर्णित करते हैं।

परिव्राजक और भिक्षु शब्दों का प्रयोग सन्यासाश्रम के लिए किया गया। सन्यासाश्रम पूर्ण त्याग और आत्मनियंत्रण का जीवन था। सन्यासी को क्रोध, मोह और सांसारिक आसक्तियों से परे रहते हुए यम, नियम, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति का पालन करना आवश्यक था।

महाभारत में ब्रह्मचर्य आश्रम को गुरुकुल वास कहा गया है। बालक ब्रह्मचारी तब होता है जब वह मन, वाचा और कर्म से ब्रह्म की सेवा करे। ब्रह्मचारी के कर्तव्य हैं—इन्द्रियों का संयम, वेदाध्ययन, गुरु की सेवा और प्रणाम, व्रत पालन और गुरु-दक्षिणा देकर योग्य कन्या से विवाह करना। गृहस्थाश्रम में पंच महायज्ञ, अहिंसा, सत्य, दया, स्त्री की रक्षा, दान और पवित्रता का पालन करना अनिवार्य था।

वानप्रस्थाश्रम में गृहस्थ जीवन के सामाजिक और पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर वन में रहकर इन्द्रिय संयम, क्षमाशीलता, पवित्रता और अतिथि सत्कार का पालन किया जाता था। संन्यासाश्रम जीवन का अंतिम चरण था, जिसमें पूर्ण त्याग, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और भक्ति का पालन कर मोक्ष की प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित था।

स्मृतियों में आश्रम व्यवस्था :

स्मृतियों में चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—का विस्तृत विवरण मिलता है। विहित क्रम के अनुसार इन्हें अपनाना श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि यह पुरुषार्थ और मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाते हुए व्यक्ति को इन्द्रिय संयम, यज्ञ, वेदाध्ययन और सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन करना अनिवार्य था।

ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए उपनयन की आयु भिन्न थी—ब्राह्मण 5-16 वर्ष, क्षत्रिय 6-21 वर्ष, वैश्य 8-24 वर्ष या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बालकों के लिए क्रमशः 8, 11 और 12 वर्ष उपयुक्त मानी जाती थी। उपनयन संस्कार के बाद बालक गुरु के पास वेद, सदाचार और पवित्रता की शिक्षा ग्रहण करता। अध्ययन पूरा होने पर ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता और गुरु की अनुमति से विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता।

गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। इस आश्रम में व्यक्ति न केवल अपने कर्तव्य—त्रिऋण का निर्वाह, यज्ञ, दान और सन्तानोत्पत्ति—पूरे करता है, बल्कि अन्य आश्रमवालों की सहायता भी करता है। गृहस्थावस्था पूरी होने पर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता। इस अवस्था में वह वन में निवास करता, मृगचर्म या वस्त्रखंड धारण करता, फल, फूल आदि का सेवन करता और इन्द्रिय संयम तथा अतिथि

सत्कार का पालन करता। वानप्रस्थी के लिए यह जीवन विभिन्न परिस्थितियों में शरीर और मन को कठोर परिस्थितियों के लिए तैयार करने का साधन था।

सन्यासाश्रम पूर्ण त्याग और मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग था। व्यक्ति को संसारिक इच्छाओं, मोह और लोभ से परे रहकर यम, नियम, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह का पालन करना चाहिए।

स्मृतियों के बाद के ग्रंथों—पुराण, कामंदक नीतिसार, शुक्रनीतिसार आदि—में भी आश्रमों का विवरण मिलता है। 11वीं सदी में अलबरुनी ने उल्लेख किया कि चारों आश्रमों का विधान केवल ब्राह्मणों के लिए था; क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र केवल पहले तीन आश्रमों तक ही पहुँच सकते थे।

आश्रम-धर्म :

आश्रम-धर्म का तात्पर्य जीवन के चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में विशेष रूप से विहित धर्मों और आचारों से है। यह प्रत्येक आश्रम में पालन किए जाने वाले कर्तव्य, अनुशासन और नैतिक आचार का संकेत देता है। आश्रम-धर्म का पालन व्यक्ति के स्वधर्म (व्यक्तिगत कर्तव्य) और पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए आवश्यक माना जाता था।

ब्रह्मचर्याश्रम मानव जीवन का पहला विभाग है। इसका मूल उद्देश्य इन्द्रिय संयम, वेदाध्ययन और व्रत का पालन है। इस आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। उपनयन से पहले बालक इच्छाओं, वाणी और भोजन के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रतिबंध से मुक्त रहता था, लेकिन संस्कार के पश्चात उसे संयमित जीवन व्यतीत करना आवश्यक था। इस कारण उपनयन संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए अनिवार्य था, जबकि शूद्रों के लिए यह संस्कार वर्जित था।

पूर्ववैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था अपेक्षाकृत लचीली थी। व्यक्ति अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार अध्ययन या व्यवसाय का चयन कर सकता था। लेकिन समय के साथ वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आई, जिससे समाज में ऊँच-नीच का भेद उत्पन्न हुआ। शास्त्रकारों ने समाज को द्विज और एकजाति में बाँटा। द्विज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शामिल थे, जिनके लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य था। शूद्रों को द्विज नहीं माना गया, क्योंकि उनके लिए उपनयन संस्कार वर्जित था और उन्हें एकजाति (एक ही जन्म वाला) माना गया।

निष्कर्षत: भारतीय परम्परा में आश्रम व्यवस्था मानव जीवन को सुव्यवस्थित और अर्थपूर्ण बनाने की एक व्यावहारिक प्रणाली है। इसके अंतर्गत जीवन को चार क्रमिक चरणों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—में विभाजित किया गया है, जिनका उद्देश्य व्यक्ति और समाज दोनों का संतुलित विकास है। ब्रह्मचर्याश्रम में शिक्षा, अनुशासन और इन्द्रिय-संयम द्वारा चरित्र निर्माण किया जाता है। गृहस्थाश्रम को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि इसी में सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक दायित्वों का निर्वाह होता है तथा अन्य आश्रमों का पोषण भी होता है। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति क्रमश: सांसारिक आसक्तियों से दूर होकर संयम, तप और आत्मचिन्तन का अभ्यास करता है। सन्यासाश्रम जीवन का अंतिम चरण है, जिसमें पूर्ण त्याग और मोक्ष की साधना का विधान है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *ऋग्वेद, सम्पा. रामगोविन्द त्रिवेदी, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, 2010*
2. *यजुर्वेद, भाष्यकार-स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर : सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, 2005*
3. *अथर्ववेद, सम्पा. पं. रामचन्द्र शास्त्री, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2008*
4. *ऐतरेय ब्राह्मण, अनुवाद-डॉ. सत्यव्रत सामश्रमी, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2012*
5. *आपस्तम्ब धर्मसूत्र, सम्पा. एवं अनुवाद-उमा मिश्र, इलाहाबाद : हिन्दी समिति सूचना विभाग, 1999*
6. *गौतम धर्मसूत्र, सम्पा. पं. गिरिधर शर्मा, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2004*
7. *वसिष्ठ धर्मसूत्र, अनुवाद-डॉ. हरिदत्त शर्मा, दिल्ली : नाग पब्लिशर्स, 2006*
8. *बौधायन धर्मसूत्र, सम्पा.-वासुदेवशरण अग्रवाल, लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1989*
9. *दीघ निकाय, अनुवाद-भिक्षु जगदीश कश्यप, नालन्दा : पाली प्रकाशन समिति, 1975*
10. *संयुक्त निकाय, अनुवाद-भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी : महाबोधि सभा, 1982*
11. *जातक, अनुवाद-डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1968*
12. *वाल्मीकि रामायण, सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद-गीता प्रेस, गोरखपुर : गीता प्रेस, 2016*
13. *महाभारत, शान्ति एवं अनुशासन पर्व सहित, गोरखपुर : गीता प्रेस, 2014*
14. *मनुस्मृति, भाष्यकार-मेदातिथि, वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, 2011*
15. *याज्ञवल्क्य स्मृति, सम्पा.-पं. श्रीराम शर्मा, दिल्ली : नाग पब्लिशर्स, 2003*
16. *नारद स्मृति, अनुवाद-डॉ. रामजी उपाध्याय, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 1997*
17. *विष्णु स्मृति, सम्पा.-पं. सत्यदेव मिश्र, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1985*
18. *कामन्दकीय नीतिसार, अनुवाद-वासुदेवशरण अग्रवाल, लखनऊ : हिन्दी समिति, 1953*
19. *शुक्रनीतिसार, सम्पा.-डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1969*
20. *भारत का सांस्कृतिक इतिहास (भाग-1), लेखक-डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2010*
21. *भारतीय धर्म और समाज, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2001*
22. *भारत का सामाजिक इतिहास, रोमिला थापर, हिन्दी अनुवाद, दिल्ली : ओरिएण्ट ब्लैकस्वान, 2012*
23. *इण्डिया, अलबरूनी, हिन्दी अनुवाद-रामकुमार वर्मा, दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट, 1994*